हिंदी का अजनबी इलाक़ा

शीला संधू

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

वह 1940 का साल था। दुर्निवार हौसलों की कुलाँचें भरती सोलह बरस की उम्र! मुझे लगता था कि मैं अपनी ज़िंदगी के मामूलीपन को अच्छी तरह समझ चुकी हूँ। मैं यह भी महसूस करती थी कि मेरी जो भी शख़्सियत बन गयी है, वह ज़िंदगी भर यूँ ही क़ायम रहेगी। मेरी दुनिया के पसारे में मेरे पिता प्रोफ़ेसर राजिंदर सिंह और उनकी बीवी अजीत कौर यानी मेरी माँ के अलावा और कोई न था। बेहद नैतिकतावादी और सपाट शक्लोसूरत के पिता के मुक़ाबले मेरी माँ बेपनाह ख़ूबसूरत होने के साथ-साथ खिलंदड़ी तबीयत की मालकिन थीं। गाँधीवादी सादगी से भरे पिता के घर में मेरे साथ चार छोटे भाई-बहन और रहते थे। मुझे इस बात का एहसास था कि उस तंग घर में मैं सबसे बड़ी हूँ। मैं गुरबानी का पाठ कर लेती थी, चरखा चलाना जानती थी, सफ़ेद रंग की खादी पहनती थी और घर से पंद्रह मिनट की दूरी पर स्थित लड़कियों के सरकारी स्कूल में साइकिल चला कर जाती थी। पढ़ाई में मेरे नम्बर कुछ ख़ास नहीं आते थे। पिता के लिए एक तरह से यह स्थायी निराशा की बात बन चुकी थी। साइकिल पर सवार हो कर बाहर निकलना मेरे दिन का सबसे अच्छा वक़्फ़ा होता था। लाहौरी सर्दियों की कुरकुरी धूप जब मेरे चेहरे पर पड़ती तो मैं ख़ुशी से सराबोर हो जाती। तब मुझे बस अपने बालों और दुपट्टे में उलझी हवा की आवाज़ सुनाई देती थी।

मेरे दादा घूड़ा सिंह तलवण्डी के गुरुद्वारे में ग्रंथी थे। ज्ञान-परम्परा की अपनी एक छोटी-सी दुनिया में रमे रहने वाले पिता उनके बारे में कभी-कभार ही बात करते थे। गुजराँवाला में लड़कियों के मिशन स्कूल में हेडमास्टरी करने वाले अपने पिता छत्तूर सिंह के बारे में भी वे अकसर चुप रहते थे। गाँधीवादी और अकाली राजनीति के टकराव का ख़मियाजा उन्हें मजबूरन अपने इस्तीफ़े के रूप में उठाना पड़ा। इस्तीफ़ा देने के बाद वे लाहौर आ बसे और पाँच-छह लोगों के साथ मिल कर सिख नेशनल कॉलेज की बुनियाद रखी। वीतरागी, उदारमना और संन्यासी प्रवृत्ति के मेरे पिता अपने विचारों में सेकुलर और खुले दिमाग़ से सोचने वाले थे। मुझे लगता है कि एक गहरा धार्मिक आदमी ही ऐसा हो सकता है। उनके लिए खगोल-विज्ञान, शायरी और संगीत धर्म के ही दूसरे नाम थे। उन्होंने हमारे घर को कबीर, ग़ालिब, नानक, रवींद्रनाथ और इक़बाल जैसी शख़्सियतों से गुलज़ार किया और उनसे मेरा भी तआरूफ़ कराया। शायद लफ़्ज़ों के साथ ताउम्र चलने वाली मेरी दीवानगी की बुनियाद यहीं पड़ी थी। शायद भविष्य में शब्दों के जादूगरों की संगत करने का संस्कार मुझे यहीं से मिला था!

जब गाँधीजी ने छुआछूत के विरुद्ध अभियान शुरू किया तो भापाजी ने उसी दिन बच्छना से गुज़ारिश की कि वह शाम का खाना हमारी रसोई में बनाए। उनकी बीवी यह सब चुपचाप सहन करती रही, लेकिन जब उन्होंने स्वदेशी का अलम उठाया तो वह अपने धू-धू करके जलते कपड़ों की राख देखना सहन नहीं कर सकी। जिन दिनों मेरे क़दम बचपन से जवानी की ओर बढ़ रहे थे, तभी उनके संबंधों में गहरी खटास आने लगी थी। मुझे उस तूफ़ान का दूर-दूर तक कोई अंदेशा नहीं था जो आने वाले दिनों में टैगोर गार्डेंस स्थित हमारे छोटे से आशियाने को उजाड़ने वाला था। संत्रास की उस अबूझ धुंध में मुझे कुल यही समझ आ रहा था कि माँ के आसन्न पलायन, पछतावे से भरी वापसी लेकिन फिर आख़िर में कभी न आने के लिए चले जाने के बाद मुझे अपने पिता, दो छोटी बहनों और भाइयों को सँभालना पड़ेगा। उनकी बीवी ने अपने दोस्त के साथ अलग घर बसाने का फ़ैसला कर लिया था और उसकी नयी ज़िंदगी में हम छह भाई-बहनों के लिए कोई जगह नहीं थी।

भापाजी ने अपना यह गहरा दुख मेरे साथ साझा किया था और मैंने बिना आगा-पीछा देखे जी-जान से उनका साथ दिया। आज मैं उनकी कमियों और सीमाओं को ज़्यादा सफ़ाई से देख पाती हूँ, लेकिन उन्हें दोषी आज भी नहीं मान पाती। अपनी माँ को मैं कभी माफ़ नहीं कर पायी। उसके जाने के बाद हमारे चारों ओर जैसे दुख का एक मोटा पर्दा खिंच गया। वह सब एक ज़ेल की तरह था। मायूसी के इस माहौल में एक दिन मैंने ऑल इण्डिया स्टूडेंट्स यूनियन को परवाना भेजा कि मैं राशन डिपो में वालंटियर बनना चाहती हूँ। उन दिनों विश्व-युद्ध चल रहा था। 1946 लगते-लगते मैं बीटी

का इम्तहान पास कर चुकी थी; लाहौर के महिला कॉलेज से एमए के इम्तहान में पूरी युनिवर्सिटी में अव्वल दर्जा हासिल कर चुकी थी। और तो और, पिता की सरपरस्ती को किनारे करके अंग्रेज़ी साहित्य में ग्रेजुएशन कर रहे दुबले-पतले हरदेव के इश्क़ में पड़ चुकी थी। हरदेव, जिसकी ज़ेबें ख़ाली रहती थीं और दिमाग़ इंक़लाब, रोमांस और क्रिकेट से लबालब रहता था। 1943 में एक दिन मेरी मरियल साइकिल उससे टकरा गयी थी। उसने मेरी किताबें उठाने और दिल में घुमड़ रहे जज़्बातों को सँभालने में मदद की। तब इस बात का दूर-दूर तक इमकान नहीं था कि मेरी ज़िंदगी के पचास साल इसी आदमी के साथ गुज़रेंगे! बाद में जब प्रीत नगर के रैडिकल नौजवानों— नवतेज और उमा के साथ शीला भाटिया द्वारा लिखे गये ब्रिटिश विरोधी गीत गाने पर मुझे हवालात जाना पड़ा तो वह वहाँ भी मुझसे मिलने आया। हरदेव उन्नीस साल की उम्र में कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर बन गया था। अपने पश्चिम-प्रेमी सिविल इंजीनियर बाप की मौत के बाद उसने कॉलेज और घर दोनों को अलविदा कह दिया था। वह अपनी बयालीस साल की विधवा माँ बीजी को 81-जी, मॉडल टाउन के उस घर में छोड़ आया था, जो कभी शान-शौक़त में डूबा रहता था, और जहाँ वह अपने चार बच्चों के साथ जैसे-तैसे दिन गुज़ार रही थीं।

पिता को पता था कि मैं राजनीति में आधी-अधूरी दिलचस्पी रखती हूँ। लेकिन, उन्हें असल ग़ुरेज 'ख़राब सेहत वाले उस कम्युनिस्ट से था जिसके लिए साध्य साधन से ज़्यादा अहमियत' रखते थे। मैंने किसी तरह भापाजी के सामने यह बात पहुँचा दी थी कि मुझे अपने लिए न और दूल्हे देखना है, और न ही मैं लोगों के सामने नुमाइश की चीज़ बनना चाहती हूँ। मैंने छोटी बहन के ब्याह का इंतज़ार किया और एक बार जब यह बात आयी-गयी हो गयी तो पिता की तमाम नैतिक और भावनात्मक आपत्तियों के बावजूद हम दोनों ने विवाह कर लिया। पिता की नज़रों में अपनी बेटी के जीवन-साथी के रूप में किसी भी बाप के लिए वह एक शर्मनाक बात थी। तीन अगस्त, 1947 को मैंने सिर झुका कर *आनंद करज* की रस्म पूरी की। एक पल के लिए भी पलट कर नहीं देखा और हमेशा के लिए घर छोड़ कर चली आयी।

1

दोपहर की चौंधियाती रोशनी में लाहौर की घुरपेच गलियाँ आदिम राक्षसों के अट्टहास से गूँजने लगीं— हर-हर महादेव!, अल्ला-हू-अकबर!, जो बोले सो निहाल! डर के कारण मेरा दिल डूबने लगा था। रेडियो पर हर दिन हिंदू-मुसलमान और सिख-मुसलमानों के बीच होने वाले दंगों की ख़ौफ़नाक ख़बरें आने लगीं। माहौल में आज़ादी और हमारे प्यारे लाहौर के बँटवारे की बात उड़ रही थी। मेरे पिता को, जो मक्खी भी नहीं मार सकते थे, साम्प्रदायिक भावनाएँ भड़काने के आरोप में गिरफ़्तार कर बहुत से अन्य लोगों के साथ लाहौर की सेंट्रल जेल में डाल दिया गया। लाहौर की गलियों में मँडराते ख़तरे से बेख़बर मैं और हरदेव ताँगे पर सवार हो कर उनसे मिलने पहुँचे। हमें उनसे घर की चाबियाँ भी लेनी थीं और बच्चों की ख़ैरियत भी जाननी थी। पिता थके और उदास लग रहे थे। मैक्लॉड रोड पर स्थित पार्टी का दफ़्तर भीड़ और अफ़वाहों से सरगर्म था। वह रात हमने फ़्रैंक ठाकुरदास के फ़र्ग्युसन क्रिश्चियन कॉलेज वाले घर में गुज़ारी। ठाकुरदास फँसे हुए लोगों की खुले मन से मदद कर रहे थे, लेकिन अपने आसपास घटती इस उठा-पटक से उनकी बीवी आजिज़ आ चुकी थी। अगली सुबह हम डॉ. अमरीक के साथ ख़ालसा कॉलेज पहुँचे। उस वक़्त क़ैदियों और विचाराधीन क़ैदियों की हालत बहुत डाँवाडोल रहा करती थी। एक दिन उन्हें दोषी सिद्ध कर दिया जाता था; दूसरे दिन उन्हें नायक बना दिया जाता था, फिर सज़ा दे दी जाती थी या रिहा कर दिया जाता था ... हर तरफ़ विकट ऊहापोह और अराजकता का राज था। अदालतों पर अजब पस्ती और संदेह का माहौल तारी था।

> **हिंदी के अजनबी इलाक़े में जब मैंने डरते-डरते क़दम रखा तो उसके पहरेदारों ने मुझे 'तेज़तर्रार और अक्खड़' या एक ऐसी 'परकटी' पंजाबन कहकर ख़ारिज कर दिया जिसे साहित्य का अलिफ़ भी नहीं आता। मुझे पता था कि मेरे बाल छोटे हैं, कि प्रकाशन-गृह का असली मालिक मेरा पति है और किसी ख़ास कोण से देखने पर मैं तेज़ और अक्खड़ नज़र आ सकती थी। लेकिन उन्हें मैं सिर से पाँव तक असभ्य, आक्रामक और ग़ुस्सैल दिखाई देती थी। उनकी हिक़ारत में हैरत छिपी रहती थी। इतने अलग-अलग मिज़ाज के दो लोग कभी एक छत के नीचे नहीं रहे होंगे। क्या मुझे गोबर पट्टी में जन्म न लेने के कारण कभी माफ़ नहीं किया जाएगा? मेरे भीतर ग़ुस्से की लहर ज़ोर मारती कि इन अजनबी नामों वाले पान-चबाऊ लोगों को मैं दुनिया के बारे में कई चीज़ें बता सकती हूँ। आख़िर मेरा अध्ययन ठीक-ठाक था। मेरे पास ऊँची तालीम थी और मैं देश-विदेश घूम चुकी थी। मैं जिस दुनिया से आयी थी वहाँ कोई भी मेरी क़ाबिलियत पर इस हतक और ओछेपन से नहीं थूक सकता था।**

हर चीज़ अनिश्चितता का शिकार हो गयी थी। हम तेईस तारीख़ की दोपहर को मिलिट्री के एक ट्रक में रखे अनाज के साथ सफ़र करते हुए अमृतसर पहुँचे। पार्टी-दफ़्तर में कॉमरेडों की अफ़रा-तफ़री के बीच जा कर लगा कि जैसे मैं थोड़े समय के लिए छुट्टियाँ मनाने आ गयी हूँ। पिता के टूटे-बिखरे घर की चाबियाँ मैं उनके हमदर्द मुस्लिम पड़ोसियों को सौंप आयी थी। मेरे जैसे और भी सैंकड़ों लोग थे जो इसी तरह चाबी सौंप कर आये थे। मेरा बार-बार मन करता कि किसी तरह वापस लौट कर वहाँ बीते जीवन का कोई टुकड़ा उठा कर ले आऊँ। लेकिन, फिर धीरे-धीरे यह एहसास गहराता चला गया कि शायद यह पागलपन कभी ख़त्म नहीं होगा।

तीन दिन बाद, उस बेहद ख़ौफ़नाक़ साल की एक उमस भरी दोपहर जब हम अपने 'घर' पहुँचे तो हमें बताया गया कि कुछ क़ैदियों को निर्दोष मानते हुए रिहा कर दिया गया था और इधर-उधर छिटपुट हिंसक वारदातें हुई थीं। किसी को कोई ख़बर नहीं थी ... हमें एक नारकीय भँवर में फेंक देने वाले तूफ़ान में ... आँखों पर पट्टी बाँध कर घुस गये थे। होशोहवास लौटने पर मुझे बताया गया कि अपने साथ के बाक़ी लोगों की तरह उन्हें भी तयशुदा दिन से पहले रिहा कर दिया गया था। और, लाहौर में अदालत के बाहर एक 'दंगे जैसे हालात' में उनका क़त्ल कर दिया गया था।

इसके काफ़ी वक़्त बाद, 1948 के नवम्बर महीने में मैंने रंधीर सिंह और डॉ. इंदरजीत सिंह के साथ आख़िरी बार लाहौर से बाहर क़दम रखा। मैं एक जज़्बाती काम के लिए गयी थी। असल में, पिता के लॉकर में मेरा एक मामूली-सा जेवर रखा था जो कभी मेरी दादी ने मेरे नाम किया था। बचपन के उस घर पर जब मैंने आख़िरी बार दुख से भीगी नज़र डाली तो मेरे पास खड़ी हमारे पड़ोसी की नौवीं बहू कुलसूम बानो डर और शर्मिंदगी से लरजती आवाज़ में मुझे कभी वापस न लौटने की ताक़ीद कर रही थी। वह अपने घर के मर्दों की और ज़्यादा ज़िम्मेदारी नहीं ले सकती थी। यह एक नाउम्मीद कर देने वाला, बेमतलब और ख़ौफ़ज़दा सफ़र था जिसका कोई हासिल नहीं था। यह पागलपन हर कहीं पसरा था— ट्रेनों में, शरणार्थियों के शिविरों में, शहर में और देहात में!

शादी के बीस दिनों बाद मैं अपनी माँ के सारे बच्चों की वारिस बन चुकी थी। अजीत कौर के बारे में किसी को कोई ख़बर नहीं थी, न ही कोई उसके बारे में बात करता था। मैंने उनकी आवाज़ पैंतालीस साल बाद तब सुनी जब वह ज़िंदगी की आख़िरी साँस गिन रही थी, लेकिन मैंने उन्हें दुबारा कभी नहीं देखा।

हरदेव ने मुझसे चिल्लाते हुए पूछा : 'शीला, तुम क्या करने पर तुली हो? इस जगह का कामकाज कौन सँभालेगा? तुम तो हिंदी पढ़ तक नहीं सकतीं ... ।' ... पासा फेंका जा चुका था। परिवार में आये दिन तनाव रहने लगा, क्योंकि मैं हर दिन ऑफ़िस में बारह घंटे दे रही थी; एक ऐसी भाषा में प्रकाशन का कामकाज देख रही थी जिसकी लिपि तक मेरे लिए अजनबी थी। मैं पैंतालीस साल की हो चुकी थी जब मैंने देवनागरी के 'म' और गुरमुखी के 'स' में अंतर करना सीखा। मैं सोच-सोच कर परेशान थी कि ये मैंने ख़ुद को किस आफ़त में डाल दिया है।

2

पार्टी मुख्यालय ने हरदेव, मुझे और मेरे भाई-बहनों को बेपनाह प्यार दिया। पार्टी का दफ़्तर एक बड़े से कुनबे की तरह था जिसमें सब अपने-अपने झंझटों में उलझे थे। हरदेव पूरावक़्ती इंक़लाबी था। पार्टी उसके खानपान और कपड़ों का ख़याल रखती थी और उसे हर महीने पच्चीस रुपये की शाहाना तनख़्वाह दिया करती थी। दर्जनों साल तक या इससे भी ज़्यादा बरसों के लिए उसकी यही आमदनी रही। उन मुश्किल दिनों में सीमा पार से आने वाले शरणार्थी कॉमरेडों के आवास और भोजन की व्यवस्था करना पार्टी मुख्यालय के लिए कठिन होता जा रहा था। आने वाले हर शरणार्थी का ख़ौफ़ और दुख अपने आप में अनूठा था। हरदेव उस दिन जालंधर के रैनक बाज़ार से साइकिल पर गुज़र रहा था, जब उसने हमें पार्टी के दफ़्तर में वह दिल दहला देनी वाली ख़बर सुनाई थी। गाँधीजी की हत्या पर मैं इतनी ग़मग़ीन हुई जितनी अपने जवान पिता की मौत पर भी नहीं हुई थी। उस दिन मेरी छाती में खौलता आवेग अचानक शांत हो गया था। अब मेरे दिल में एक बड़ा-सा छेद था जो कभी भरा नहीं जा सका।

बाक़ी तमाम लोगों में रोजग़ार करने लायक़ मैं ही थी, इसलिए फ़ैसला किया गया कि मुझे जल्द से जल्द नौकरी के लिए अर्ज़ी लगा देनी चाहिए। मुझे तो यक़ीन ही नहीं होता था कि मुझे कोई नौकरी भी मिल सकती है। मैं तेईस साल की थी और जिस समय मुझे अपने भीतर आत्मविश्वास, हिम्मत

और फ़ैसलाकुन होने की क्षमता पैदा करने की ज़रूरत थी, मैं डर, दब्बूपन, जज़्बात, भ्रम और बेसब्री से भरी थी। अपने आसपास के क़त्लोग़ारत और पागलपन से बाहर निकलने के लिए मैंने असली बीबी सुशील कौर को कहीं दूर छिपा दिया था। पंजाब के शिक्षा-निदेशक जी.सी. चटर्जी ने मेरे पिता के बारे में सुन रखा था। अपनी पहली नौकरी की अर्ज़ी मैंने उनके कहने पर ही लगाई थी। क्या लुधियाना के राजकीय बालिका कॉलेज में लेक्चरर के पद पर मेरी ही नियुक्ति हुई थी? क्या उस वक़्त मुझसे कोई भूगोल का हाल और मानी समझ सकता था, जब हमारे आसपास की दुनिया टुकड़ा-टुकड़ा बिखर चुकी थी?

जो भी हो, दो सौ दस रुपये की माहवार तनख़्वाह मिलना तब बड़ी राहत की बात थी। मैंने हरदेव को अपनी माँ और दो भाइयों के प्रति फ़र्ज़ पूरा करने के लिए तैयार कर लिया। वे भी हमारे साथ रहने लगे। मैं नहीं जानती कि इस तनख़्वाह में आठ बालिग लोगों का पेट कैसे भरता था और कपड़े-लत्तों की ज़रूरत किस तरह पूरी हो पाती थी। शायद अब मैं विलाप करती माँओं के हाथों से छीन कर उनके शिशुओं को चलती ट्रेन से फेंक दिये जाने वाले दृश्यों को भूल सकती थी; उस जवान औरत का दुख भूल सकती थी जिसने रेलवे के एक अनजान प्लेटफ़ॉर्म पर मरे हुए बच्चे को जन्म दिया था और जिसकी इस जचकी में मैंने मदद की थी। मैंने कालकाजी शरणार्थी शिविर में गर्भपात होने पर ख़ुद को यह कह कर समझा लिया था कि शायद मेरा बच्चा भी मरा हुआ ही पैदा हो और क्या पता कि यह गर्भपात मेरे भले के लिए ही हुआ हो। मुझे इस घटना की याद बहुत बाद में— अप्रैल, 1950 में आयी जब लुधियाना के अपने घर में मैंने दाई की मदद से एक ख़ूबसूरत बेटी को जन्म दिया। ज़ाहिर है कि हमने उसका नाम बोल्शेविक क्रांति में शहीद हुई नायिका ज़ोया के नाम पर रखा!

नेहरू की नयी-नवेली सरकार ने 1949 में कम्युनिस्ट पार्टी को उसके 'झूठी आज़ादी' के नारे के कारण प्रतिबंधित कर दिया। हम लोग समवेत सुर में बड़े जोशोख़रोश से गाया करते थे : 'बदल गया है ताला, पर बदली नहीं है चाबी ...' । इस चक्कर में हरदेव को भूमिगत होना पड़ा। उसे अपनी बेढंगी पगड़ी छोड़नी पड़ी और अंततः बेतरतीब दाढ़ी मुँड़वा कर मोहन के रूप में अवतार लेना पड़ा। वह छिपता घूम रहा था और बाक़ी कई औरतों की तरह उसकी बीवी के पीछे भी सीआईडी लगी हुई थी और उसकी सरकारी नौकरी पर ख़तरा मँडरा रहा था। लेकिन, उस वक़्त इन ख़तरों से खेलना बुरा नहीं लगता था, क्योंकि तब इंक़लाब नुक्कड़ पर खड़ा नज़र आता था। क्या तब ऐसा ही नहीं लगता था? क्या आम हड़ताल से सरकार लाचार नहीं हो जाने वाली थी और पूँजीवाद ताश के पत्तों की तरह नहीं बिखर जाने वाला था? हम साँस थामे इंतज़ार कर रहे थे। इंक़लाब ने उन्हें निराश किया। जेलें कॉमरेडों से अट गयीं। लेकिन अपनी समझदारी के कारण मोहन पकड़ में नहीं आया। वह चार साल तक भूमिगत रहता रहा। कम्युनिस्ट की बीवी होने के कारण मुझे नौकरी से हाथ धोना पड़ा, लेकिन उसकी वह ज़ालिमाना ख़ुशमिज़ाजी ज़िंदा बची रही।

मैंने अख़बार में यूपीएससी का एक विज्ञापन देखा और अपनी अर्ज़ी लगा दी और मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय में एक गज़ेटेड पद मिल गया। मुझे सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन में छात्रों को भूगोल पढ़ाने का काम दिया गया। 1950 की सर्दियों में हमने तिमारपुर के पास तीस रुपये महीने की एक छोटी-सी बैरक किराये पर ली। यह छोटी-सी घिचपिच जगह जल्द ही दोस्तों, कॉमरेडों, रिश्तेदारों और टूटी-बिखरी ज़िंदगियों से भरने लगी। यहाँ छूटे हुए ख़्वाबों और ख़्वाहिशों की एक पूरी दुनिया— पूरी क़ायनात बसा करती थी।

हरदेव अपनी साइकिल से हर दिन दूर फ़िरोज़शाह रोड पर पार्टी के दफ़्तर जाया करता था। मैं कॉलेज पैदल ही निकल जाती। सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन में पढ़ाने के अलावा वहाँ के प्रिंसिपल डॉ. बसु ने मुझे एमएड में दाख़िला लेने की सलाह दी। एमएड में प्रथम स्थान हासिल करके मैंने ख़ुद

को एक बार फिर चकित कर दिया। अबकी बार यह कारनामा लाहौर से कई सौ मील दूर दिल्ली युनिवर्सिटी में घट रहा था। हरदेव ख़ुशी से फूला नहीं समा रहा था। उसकी ख़ुशी में जैसे मेरे दिवंगत पिता की ख़ुशी भी झलक रही थी। लेकिन, दिल्ली युनिवर्सिटी में पहला स्थान हासिल करने के बावजूद मेरी नौकरी बच नहीं सकी, क्योंकि सीआइडी ने मेरे ख़िलाफ़ गृह मंत्रालय में रिपोर्ट दर्ज करा दी थी। डॉ. बसु इस बात से सकते में आ गये थे कि मुझे पंजाब के शिक्षा विभाग में वापस भेजा जा रहा था। मैंने कई राजनीतिक दरवाज़ों पर दस्तक दी— यहाँ तक कि उपराष्ट्रपति एस. राधाकृष्णन से भी मुलाक़ात की, लेकिन कहीं कुछ हासिल नहीं हुआ। उन्होंने अपनी आँखों में स्वस्थ लेकिन मज़ाकिया चमक के साथ पूछा कि क्या मेरी छाती में अब भी क्रांति की आग धधकती है। मैंने टालमटोल करते हुए कहा कि मैं भूगोल की एक क़ाबिल अध्यापक हूँ। उन्होंने मेरी बात सहानुभूति से सुनी और मुझे गृहमंत्री से मिलने की ताक़ीद की, लेकिन चलने से पहले यह भी कहा कि, 'डॉ. काटजू बहरे हैं, वे तुम्हारी मासूमियत समझ नहीं पाएँगे।' दिल्ली युनिवर्सिटी की नौकरी जाते समय मेरी उम्र तीस साल हो गयी थी। मुझे वापस पंजाब भेज दिया गया और जानबूझ कर शिमला के राजकीय बालिका कॉलेज में नियुक्ति दी गयी। मैं एकल महिला हॉस्टल में रहने लगी। तनख़्वाह की कमी को पूरा करने के लिए मैंने छठी, सातवीं और आठवीं कक्षा के बच्चों के लिए अमृतसर के गोवर्धन कपूर ऐंड संस द्वारा प्रकाशित भूगोल की पाठ्यपुस्तकें भी लिखीं। मुझे इस सच्चाई का कभी पता नहीं लग पाया कि प्रकाशक ने कितनी प्रतियाँ छापीं और बेचीं। मुझे याद पड़ता है कि हमारे बीच एक क़रार पर दस्तख़त हुए थे। एक दो बार एकमुश्त पैसे भी मिले, लेकिन अब याद नहीं आता कि उदासी से भरे उन दिनों में पता नहीं वे पैसे कहाँ चले गये। तब हर चीज़ उम्मीदों से ज़्यादा और ज़रूरतों से कम हुआ करती थी। आज की तरह तब भी पाठ्यपुस्तकें तगड़ी कमाई का स्रोत हुआ करती थीं। लेखकों का शोषण हुआ करता था और प्रकाशक फ़रिश्ते नहीं हुआ करते थे। पार्टी ने 1954 में कुछ पूरावक़्ती कॉमरेडों को फ़रमान जारी किया कि अब अपने रोजग़ार की चिंता वे ख़ुद करें क्योंकि पार्टी उनका 'ख़र्चा नहीं उठा सकती'। मुझे लगा कि यह पार्टी की बैठकों में लगातार असहज सवाल करने वाले सदस्यों को ठिकाने लगाने का महज़ एक बहाना था। पार्टी की दिल्ली इकाई ने हरदेव से साफ़ कहा कि उसके लिए अब पार्टी के पास कोई काम नहीं है, लिहाज़ा अपने रोजग़ार का इंतज़ाम वह ख़ुद करे। हरदेव इस मज़ाक को अच्छी तरह समझता था— यह बात एक ऐसे आदमी से कही जा रही थी जिसके पास कोई रोजग़ार था ही नहीं।

हरदेव ने हमेशा की तरह अपनी प्रतिभा और असीम ऊर्जा नये काम में झोंक दी— कभी वह पत्रकारिता में हाथ आजमाता दिखता था तो कभी बीमे और ट्रेवल एजेंट के तौर पर कमाई करता था। 1955 में हम जोरबाग़ के अर्धशहरी इलाक़े में ग्राउंड फ़्लोर के एक दो कमरे वाले किराये के मकान में चले गये। मकान में एक छोटा-सा बगीचा भी था। यह जगह मेरे काम की जगह से मीलों दूर पड़ती थी। न यहाँ हमारे दोस्त थे, न परिचित दुनिया। हरदेव देर तक काम करता रहता था। उसे नींद की गोलियाँ लेनी पड़ती थीं। मरकरी ट्रेवल्स से उसे इतना कमीशन मिलने लगा था कि जल्दी ही उसने अपना काम शुरू करने का मन बना लिया। मैं उसके मिज़ाज को अच्छी तरह समझती थी, इसलिए उसे सलाह दी कि वह इस काम में न पड़े। लेकिन, वह किसी की सुनता ही कहाँ था! उसने अपने जीवन में आख़िरी बात अपने बाप की सुनी थी जो उसे सोलह साल की उम्र में छोड़ कर चल बसा था।

मैं इस बात का तसव्वुर भी नहीं कर सकती थी कि लाहौर के मुँह फेरने के दस साल के भीतर ही मैं अपने बाल कटा लूँगी और कार चलाने लगूँगी। आज जब मैं ज़िंदगी के अस्सीवें साल में पहुँचने वाली हूँ तो यह सोचकर अचरज से भर जाती हूँ कि मैंने ख़ुद को किस तरह एक नयी तरह की ज़िंदगी में ढाल लिया था!

3

1958 में जन्माष्टमी के दिन दरियागंज के एक छोटे से मकान में क्लीनिक चलाने वाले डॉ. वोर्सली के यहाँ मैंने दस पौंड के टीटू को जन्म दिया। बीजी की ख़ुशी का कोई ठिकाना न था। मैंने इंडियन स्कूल फ़ॉर इंटरनैशनल स्टडीज़ में 'द इम्पैक्ट ऑफ़ वेस्टर्न एजुकेशन इन चाइना' विषय पर पीएचडी करने के लिए पंजीकरण करा लिया था। ज़ोया बगल में स्थित सप्रू हाउस के स्कूल में जाने लगी थी। तानी का दाख़िला ब्लू बेल्स में कराया गया था। इस स्कूल की स्थापना हमारी नज़दीकी दोस्त और हंगरी की यहूदी महिला मैरी गुहा ने की थी। मैं चौंतीस की हो चुकी थी। हमारा जीवन साथ पढ़ने वाले छात्रों— सुमित्रा, लीला, कारकी, पार्वती, युधिष्ठिर, जनक, सीता, टकुलिया और फड़नीस परिवार से भरा था। हम सब दादा-दादी बनने के बाद भी सम्पर्क में बने रहे, लेकिन हरदेव के बिजनेस सहयोगी कभी कभार ही घर आया करते थे।

जब शोध के सिलसिले में मुझे टोक्यो की इम्पीरियल लाइब्रेरी और पेकिंग युनिवर्सिटी जाना पड़ा तो दोस्तों की यह दुनिया बहुत काम आयी। कॉमरेड ज़ोया मेरे छह महीने के बेटे और दोनों लड़कियों की, जो अब तीन और आठवें साल में लग चुकी थीं, देखभाल के लिए ख़ुद ही घर पहुँच गयीं। जब चीन निकलने का समय आया तो काँगड़ा की ज्योति और छेतराम ने घरबार की ज़िम्मेदारी सँभाल ली। आज यह याद करते हुए मेरी कल्पना जवाब दे जाती है कि मेरी साल भर की ग़ैर-मौजूदगी में ज़ोया और हरदेव ने टीटू, तानी और ज़ोया को किस तरह सँभाला होगा। पेकिंग विश्वविद्यालय में रहते हुए मैंने चीनी भाषा में पढ़ना-लिखना सीख लिया था। मुझे विश्वविद्यालय का माहौल भी अच्छा लगता था। लेकिन, मेरा मन हरदेव, बच्चों और हिंदुस्तान में पड़ा रहता था। मेरे पास वे तस्वीरें आज भी हैं जिनमें मैं चीन के नन्हे-मुन्ने और गदबदे बच्चों को गोद में लिए खड़ी हूँ। इन तस्वीरों के अलावा चीन में बिताए उस वक़्त का कोई और निशान बाक़ी नहीं रह गया है।

चीन में रह रहे भारतीय लोगों के सामने यह ज़ाहिर होने लगा था कि *हिंदी-चीनी भाई-भाई* का नारा बेमानी हो गया है। यह माहौल भारत और चीन के राजनयिक संबंधों में खटास आने से बहुत पहले पैदा हो चुका था। मेरे शोध-निर्देशक ने एक बार मुझे अलग बुला कर कहा था कि भारतीय छात्रों को जल्द ही पुस्तकालय की सुविधा से महरूम कर दिया जाएगा, लिहाज़ा मुझे अपना काम पूरा करने के लिए वैकल्पिक उपायों के बारे में सोचना शुरू कर देना चाहिए। मुझे इस बात पर यक़ीन नहीं हो रहा था, लेकिन मैंने जूतों के डिब्बों में रखी नोट्स की पर्चियों पर तेज़ी से काम करना शुरू कर दिया। मैं फ़ील्डवर्क का काम जल्दी से जल्दी निपटा देना चाहती थी। शोध-निर्देशक के साथ हुई इस बातचीत के बाद जल्दी ही यह साफ़ हो गया कि चीनी छात्र अपने भारतीय दोस्तों से कतराने लगे हैं। भारतीय छात्रों को जिन किताबों की ज़रूरत होती थी, वे अचानक ग़ायब होने लगीं; प्रशासन को हमारा उच्चारण समझने में दिक़्क़तें आने लगीं। शोध-निर्देशकों के पास हमारे लिए वक़्त कम पड़ने लगा और कैफ़ेटेरिया तथा हॉस्टल का स्टाफ़ हमारे साथ बहुत ठण्डा बर्ताव करने लगा।

भारत लौटने पर जब मैंने चीन में चल रहे इस गड़बड़झाले के बारे में बताया तो मेरी बात पर किसी ने यक़ीन नहीं किया। हमारे बहुत से दोस्त, यहाँ तक कि ख़ुद हरदेव मेरी इन बातों पर बिदक जाता था। ज़्यादातर लोगों का मानना था कि डॉक्टरेट पूरी न हो पाने के कारण मैं कड़वाहट और कुंठा से भर गयी हूँ। परिचित लोगों के इस दायरे में केवल कॉमरेड जोशी ही यह समझ रहे थे कि मैं जो कह रही हूँ उसके पीछे ज़रूर कोई न कोई बुरा अनुभव है। पार्टी का विभाजन एक तरह से हमारे लिए दूसरा विभाजन था। छुपे हुए चाकू फिर निकल आये थे। भाई ही भाई के गले पर सवार था। मुझे इस बात की तसल्ली थी कि हरदेव सीपीआई के साथ गया। यह देखकर थोड़ी तसल्ली होती थी कि पार्टी का साथ देने वालों या एआइएसओ, एनएफ़आईडब्ल्यू, एआइटीयूसी या इप्टा में काम करने वाले

मैंने जीवन में कभी कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन मुझे अपने ही घर के बाहर यह सब सुनना पड़ेगा : '*हाय, हाय! रण्डी हो गयी, शीला संधू, मुर्दाबाद*'। ... हरदेव का मानना था कि यह सब मेरी ज़िद और तुनकमिज़ाजी के कारण हुआ है। उसका कहना था कि मैंने अपने व्यवहार के कारण उन लोगों को इस्तीफ़ा देने पर मजबूर किया जो इस काम को बेहतर ढंग से कर सकते थे। ... इस दौरान मेरे साथ केवल कॉमरेड जोशी का व्यवहार ही सौम्य रहा।

लोगों को इस नयी और बदशक्ल दुनिया में थोड़ी हिफ़ाज़त मयस्सर थी। लेकिन पार्टी के साथ हरदेव जैसे लोगों का संबंध एक अज़ीब और दुतरफ़ा यांत्रिकता का शिकार होने लगा। चीन के तजरुबों के बाद जब हंगरी की घटना सामने आयी तो मैंने पार्टी की सदस्यता का नवीकरण नहीं कराया। और, चेकोस्लोवाकिया का प्रकरण आते-आते तो मुझे बाक़ायदा क्रांति-विरोधी सिद्ध कर दिया गया। मेरे और हरदेव के नज़रिये में फ़ासला बढ़ने लगा, क्योंकि वह पार्टी के प्रति अपनी वफ़ादारी को आख़िरी मुक़ाम तक ले जाना चाहता था।

पार्टी के साथ कभी हाँ-कभी न का संबंध रखने वाले मेरे जैसे और भी बहुतेरे लोग थे, जो हमेशा कगार पर खड़े रहते थे। उनके हिस्से में वे सारी तोहमतें आती थी जो झण्डा लेकर चलने वालों के हिस्से में आती हैं— बाक़ी दुनिया उन्हें '**कम्युनिस्ट**' समझती थी, जबकि हमारे ही लोग हमें कोई तरज़ीह नहीं देते थे। *मेनस्ट्रीम* पत्रिका की इब्तिदा करने वाले समूह के अधिकांश लोग इसी श्रेणी में आते थे। 1962 तक आते-आते डॉक्टरेट करने का ख़्वाब बिखर चुका था और मैं उस ख़्वाब की किरचें चुन रही थी। तब इस बात का दूर-दूर तक इमकान नहीं था कि दरअसल यह आने वाले दिनों की तैयारी की तरह था।

हरदेव अपने काम में दिन दूनी रात चौगुनी तरक़्क़ी कर रहा था। हमारे पास लैंडमास्टर की जगह फिएट आ गयी थी। रंग-बिरंगे आइसबॉक्स की जगह एक सफ़ेद रंग का दमकता रेफ़्रिजरेटर आ विराजा था। और जगह-जगह से टपकते गुलमर्ग कूलर की जगह हमारी खिड़कियों पर एअर

कंडीशनर फ़िट हो चुके थे। मैं अचानक साउथ दिल्ली के बियाबान में जा गिरी थी, जहाँ हमें कोई नहीं जानता था। हरदेव ने यहाँ एक दुमंजिला घर बनवाया जिसमें एक बड़ा-सा तलघर (बेसमेंट) और बगीचा भी था। यह घर नये दौर का था लेकिन वह उस घर की मजबूती और शान को मुँह चिढ़ाता था जो हरदेव के पिता ने लाहौर में बनाया था। उस घर के ज़र्रे-ज़र्रे में शान चमकती थी। ज़िंदगी की तजरुबों ने मुझे सिखा दिया था कि कुछ भी हमेशा के लिए नहीं होता। जैसे-जैसे हमारी अमीरी बढ़ती गयी, मैं और चिंतित रहने लगी। हरदेव मुझे जितना भरोसा दिलाता, मैं उतना ही असुरक्षित महसूस करती जाती। इस बात को लेकर संदेह उठने लगता कि हमारी ज़िंदगी किस तरफ़ जा रही है। धीरे-धीरे मेरे भीतर अपराध-बोध की एक तह जमने लगी। हमारे नये घर में उस पुरानी दुनिया की दरारें उभरने लगीं जिससे दामन छुड़ाकर हम इस नयी दुनिया में आये थे। महफ़िलों में दबी ज़बान से कही जाने वाली ज़हर बुझी, घटिया और फूहड़ फ़ब्तियाँ सुन कर मेरा मन गहरे दुख में डूब जाता था। मुझे लगता था कि लोगों ने मुझे अपने दायरे से बाहर कर दिया है। मैं अपने बालों को घुँघराले बनाकर स्याह काले रंग में डाई रखती थी। उस वक़्त मैं अपनी क़ाबिलियत को एक ढाल की तरह पहने रखती थी। और मेरे दिल में जैसे ग़ुस्से की एक ठण्डी मुट्ठी भिंची रहती थी।

हरदेव ने बाक़ी कॉमरेडों के साथ मिल कर जिस एक्सपोर्ट कम्पनी की बुनियाद रखी थी, वह तरक़्क़ी करते-करते सबसे बड़ी व्यापारिक कम्पनी के मुक़ाम पर पहुँच गयी थी। एक दिन घर लौटने पर उसने बताया कि वह अरुणा आसफ़ अली से मिल कर आ रहा है। वह कह रहा था कि अरुणा का प्रकाशन-गृह संकट में चल रहा है और उसने अरुणा से मदद करने का वायदा किया है। इससे पहले कि मैं कुछ पता कर पाती, मुझे ख़बर मिली कि हरदेव ने राजकमल प्रकाशन में अरुणाजी के ज़्यादातर शेयर ख़रीद लिए हैं। जल्दी ही यह भी ज़ाहिर हो गया कि हरदेव की उस प्रकाशन-गृह के प्रबंध-निदेशक से बुरी तरह ठन गयी है। प्रबंध-निदेशक के पास न केवल अच्छे-ख़ासे शेयर थे, बल्कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के साथ उन लेखकों के साथ भी गहरा राबिता था जिन्हें हम या जो जानते ही नहीं थे या फिर ख़ास तवज्जो नहीं देते थे।

चूँकि थोड़े से शेयर मेरे नाम पर भी ख़रीदे गये थे, इसलिए बोर्ड की बैठकों में मेरा जाना भी ज़रूरी हो गया था। इन बैठकों के शोर-शराबे को झेलना मेरी सहन-शक्ति से बाहर था। हरदेव को मैं ज़िंदगी में पहली बार लड़खड़ाते देख रही थी— उसने ज़्यादा बड़ा कौर तोड़ लिया था! कई महीने इसी गुलगपाड़े में बीत गये। हरदेव को बाहर करने के लिए एक दिन प्रबंध-निदेशक ने फिर इस्तीफ़ा देने का स्वाँग रचा। मैंने उसे तुरंत एक ख़ाली काग़ज़ थमाया और कहा कि वह अपना इस्तीफ़ा लिखित रूप में दे। अरुणाजी मेरी हरकत देखकर सनाका खा गयीं। हरदेव स्तब्ध था। इसके बाद पूरा माहौल चीख-चिल्लाहट से भर गया। हरदेव ने मुझसे चिल्लाते हुए पूछा : 'शीला, तुम क्या करने पर तुली हो? इस जगह का कामकाज कौन सँभालेगा? तुम तो हिंदी पढ़ तक नहीं सकती ... ।' वह प्रबंध-निदेशक की मिज़ाजपुर्सी करने में लगा था। उसे अपने इस्तीफ़े पर पुनर्विचार करने के लिए मनाने की कोशिश कर रहा था, लेकिन मुझे जैसे इससे कुछ लेना-देना ही नहीं था। हालात की बेईमानी देखकर मैं हत्थे से उखड़ गयी थी। जाते-जाते प्रबंध-निदेशक अपने साथ स्टाफ़ के कुछ कर्मचारियों और लेखकों के साथ ढेर सारी दिलजली भी लेता गया। उसने अपना अलग प्रकाशन शुरू कर दिया। इस तरह, पासा फेंका जा चुका था। परिवार में आये दिन तनाव रहने लगा, क्योंकि मैं हर दिन ऑफ़िस में बारह घंटे दे रही थी; एक ऐसी भाषा में प्रकाशन का कामकाज देख रही थी जिसकी लिपि तक मेरे लिए अजनबी थी। मैं पैंतालीस साल की हो चुकी थी जब मैंने देवनागरी के 'म' और गुरमुखी के 'स' में अंतर करना सीखा। मैं सोच-सोच कर परेशान थी कि ये मैंने ख़ुद को किस आफ़त में डाल दिया है।

4

हिंदी के अजनबी इलाक़े में जब मैंने डरते-डरते क़दम रखा तो उसके पहरेदारों ने मुझे 'तेज़तर्रार और अक्खड़' या एक ऐसी 'परकटी' पंजाबन कहकर ख़ारिज कर दिया जिसे साहित्य का अलिफ़ भी नहीं आता। मुझे पता था कि मेरे बाल छोटे हैं, कि प्रकाशन-गृह का असली मालिक मेरा पति है और किसी ख़ास कोण से देखने पर मैं तेज़ और अक्खड़ नज़र आ सकती थी। लेकिन उन्हें मैं सिर से पाँव तक असभ्य, आक्रामक और ग़ुस्सैल दिखाई देती थी। उनकी हिक़ारत में हैरत छिपी रहती थी। इतने अलग-अलग मिज़ाज के दो लोग कभी एक छत के नीचे नहीं रहे होंगे। क्या मुझे गोबर पट्टी में जन्म न लेने के कारण कभी माफ़ नहीं किया जाएगा? मेरे भीतर ग़ुस्से की लहर ज़ोर मारती कि इन अजनबी नामों वाले पान-चबाऊ लोगों को दुनिया के बारे में कई चीज़ें बता सकती हूँ। आख़िर मेरा अध्ययन ठीक-ठाक था। मेरे पास ऊँची तालीम थी और मैं देश-विदेश घूम चुकी थी। मैं जिस दुनिया से आयी थी वहाँ कोई भी मेरी क़ाबिलियत पर इस हतक और ओछेपन से नहीं थूक सकता था।

मैंने कुछ आसान और परिचित क़िस्म की कहानियाँ पढ़नी शुरू कीं। हिंदी साहित्य की जटिल दुनिया को मैंने *नयी कहानियाँ* की सौगात दी। मैं अँधेरे में रास्ता ढूँढ़ते हुए वहीं से उल्टा सफ़र कर रही थी। मुझे न वह भाषा आती थी, न मैं लेखकों या उनकी सामाजिक रीतियों से परिचित थी। इतना ही नहीं, मुझे यह भी मालूम नहीं था कि लोगबाग मुझसे क्या उम्मीद करते थे— कि मुझे उस भाषा के बड़े या उदीयमान लेखकों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए क्योंकि मैं इस भाषा में न पढ़ पाती थी, न उसमें लिख सकती थी और न उसमें क़ायदे से बोल पाती थी। विवादों से भरे इस माहौल में द्विवेदी जैसे संत लोगों ने मेरे सिर पर हाथ रखा और उस बीबी सुशील कौर से मुख़ातिब हुए जो मेरे अंदर दुबकी पड़ी थी। मेरे ऊपर उन लोगों का यह एक ऐसा क़र्ज़ है जिसे मैं आज तक अदा नहीं कर पायी। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस के चंद दोस्तों, उर्दू के शायरों और पंजाबी के कुछ कहानीकारों ने मेरी हिम्मत बँधाए रखी। वक़्त के इस नाज़ुक मोड़ पर राजकमल और मेरे लिए बेमिसाल वक्ता और अध्यापक नामवर की सलाह बहुत काम आयी। लेकिन, इसी के साथ राजकमल में गुटबाज़ी और साहित्य की व्यक्तिगत राजनीति का सिलसिला भी सतह पर आ गया।

राजकमल के पुराने सहयोगियों का मानना था कि वह भी जल्द ही पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस की नक़ल बनकर रह जाएगा। हमारे पुराने कॉमरेड कह रहे थे कि संधू परिवार अपना साम्राज्य बढ़ा रहा है। दोनों ही पक्ष मान कर चल रहे थे कि राजकमल का शीराज़ा जल्द ही बिखर जाएगा। लेकिन मैंने इन भविष्यवाणियों पर कान न देकर ऑफ़िस के कामकाज पर ध्यान देना शुरू कर दिया। दरअसल, यही एक ऐसा काम था जिसे मैं अच्छी तरह कर सकती थी। मैंने काम की एक निश्चित प्रक्रिया तय की, उत्पादन के काम को व्यवस्थित किया और उन लेखकों से मिलना शुरू किया जो मेरी प्रति खुली शत्रुता नहीं रखते थे। राजकमल की सभी किताबें नवीन प्रेस में छपती थी जिसका स्वामित्व हमारे ही पास था। प्रबंधन और कर्मचारियों के बीच पहले से ही जंग चल रही थी। मैंने जीवन में कभी कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन मुझे अपने ही घर के बाहर यह सब सुनना पड़ेगा : '*हाय, हाय! रण्डी हो गयी, शीला संधू, मुर्दाबाद*'। मेरी दुनिया तो जैसे उलट-पलट हो गयी थी। मैं घबराहट में हरदेव को बुरा-भला कहने लगी कि हम उसी की वजह से इस आफ़त में फँसे हैं। मैंने उससे कहा कि अगर मुमकिन हो तो नवीन प्रेस का सौदा कल ही कर दो। हरदेव का मानना था कि यह सब मेरी ज़िद और तुनकमिज़ाजी के कारण हुआ है। उसका कहना था कि मैंने अपने व्यवहार के कारण उन लोगों को इस्तीफ़ा देने पर मजबूर किया जो इस काम को बेहतर ढंग से कर सकते थे। मैं हर तरफ़ से घिरा हुआ महसूस कर रही थी। निकलने का रास्ता दूर तक दिखाई नहीं दे रहा था। इस दौरान मेरे साथ केवल कॉमरेड जोशी का व्यवहार ही सौम्य रहा। उन्होंने कहा कि, 'तुम्हारी राजनीतिक और सांस्कृतिक भावनाएँ एक़दम दुरुस्त हैं, बस इन भावनाओं पर क़ायम रहो और अपना काम ईमानदारी से करती रहो।'

काम के सिलसिले में मैं बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद और पटना जैसी अजनबी जगहों पर गयी जो तब मुझे चीन से भी दूर लगते थे। जब मैं लेखकों से मिलती थी तो उनके सामने साफ़ बोल देती थी कि मुझे किसी भी व्यवसाय को चलाने या हिंदी में काम करने का अनुभव नहीं है, लेकिन मैं उन्हें यह भी कह देती थी कि अगर मैं चीनी भाषा में महारत हासिल कर सकती हूँ तो चंद दिनों में हिंदी भी सीख जाऊँगी! मैंने उन्हें भरोसा दिलाया कि मैं यह पूरा काम साफ़ और पारदर्शी ढंग से करूँगी और राजकमल की परम्परा को शीर्ष पर ले जाऊँगी। मैंने उनसे गुज़ारिश की कि मुझे अपनी योजनाओं को ज़मीन पर उतारने के लिए वक़्त दिया जाए। मैं हिंदी के महान लेखकों से भी मिली और उन्हें भरोसा दिलाया कि मैं राजकमल पर ताला लगा कर मोटर के स्पेयर-पार्ट्स की दुकान खोलने नहीं आयी हूँ। यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे पंतजी, बच्चनजी, निरालाजी, सुमनजी, बाबा नार्गाजुन और फणीश्वरनाथ रेणु जैसे दिग्गज लेखकों से मिलने का मौक़ा मिला। मुझे महादेवीजी और दिनकरजी से मिलने का अवसर मिला। मैंने रूमान और रहस्य-रोमांच की पॉकेट बुक्स या पाठ्य-पुस्तक के ज़्यादा कमाऊ खेल में उतरने से परहेज़ किया और इस लक्ष्य को निगाह से ओझल नहीं होने दिया कि राजकमल की प्रतिष्ठा पर आँच न आये। मैंने उच्च-स्तरीय साहित्य के नियमित प्रकाशन के अलावा कभी अंग्रेज़ी-प्रकाशन की दुनिया में 'क़दम' रखने के बारे में नहीं सोचा। वक़्त के साथ लोग मेरे कड़ियल व्यवहार को माफ़ करते गये।

धीरे-धीरे अपने हमउम्र रचनाकारों के साथ मेरा राबिता गहरा होता गया। बाद में यह भी पता चला कि उनके साथ दोस्ताना संबंध भी बन सकते हैं। धीरे-धीरे राजिंदर सिंह बेदी, अश्क़, नेमिजी, भीष्म, भारत भूषण अग्रवाल, निर्मला, सुरेश अवस्थी, सर्वेश्वर, निर्मल, कुँवर नारायण, प्रयाग, रघुवीर सहाय, लीलाधर जगूड़ी, मनोहर श्याम जोशी, अब्दुल बिस्मिल्लाह और आख़िर में— लेकिन किसी भी तरह कमतर नहीं, श्रीलाल शुक्ल के साथ इसी तरह की दोस्ती परवान चढ़ी। मुझे याद है कि राही मासूम रज़ा का निकाह संसद भवन की छाया में खड़ी हरी मस्जिद में हुआ था और मैं वहाँ नामवरजी के साथ ताँगे में बैठकर पहुँची थी। कृष्णा सोबती मेरे लिए किसी चौराहे पर लगे मार्गदर्शक चिह्न की तरह थीं। हिंदी में उर्दू की संवेदनशीलता लाने वाली और पंजाबियत के ख़ास अक्खड़ अंदाज़ में लिखने वाली कृष्णा सोबती के साथ मैं सबसे ज़्यादा नज़दीकी महसूस करती थी। हालाँकि मुझे इसमें ज़रा कम कामयाबी मिली, लेकिन मैंने यौवन और उत्साह से भरे नये लेखकों को समझने की कोशिश भी कि जो हमारी पीढ़ी की सूक्ष्म और एक हद तक भोली-भाली दर्जाबंदियों का प्रतिकार कर रही थी। क्या मेरे और अशोक वाजेपयी और मृणाल पाण्डे जैसे लेखकों के बीच पीढ़ीगत अंतराल का यही काँटा खड़ा था? मुझे उनसे और युवतर पीढ़ी के लेखकों— सत्येन कुमार, मंजूर ऐहतेशाम, पद्मा सचदेव, स्वदेश दीपक, गीतांजलि और पंकज बिष्ट आदि से भी प्यार मिला। आंद्रे ड्यूश प्रकाशन-गृह की डायना अथिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा था कि प्रकाशक और लेखक की दोस्ती एक विरल घटना होती है, लेकिन वह असम्भव भी नहीं होती। मैं इस मामले में ख़ुद को ख़ुशक़िस्मत समझती हूँ कि प्रकाशक और लेखक की दोस्ती की इस असहज विरासत के बावजूद और प्रेम और घृणा के झटकों के बीच लेखकों के साथ मेरी दोस्ती बरक़रार रही।

हमारा घर दुबारा कविताओं, नोकझोंक, गीतों, लतीफ़ों और बहस-मुबाहिसे की आवाज़ों से आबाद होने लगा। शायद ही कोई साल जाता था जब राजकमल के लेखकों को साहित्य अकादेमी न मिलता हो और इसके उपलक्ष में मुशायरे या रंगारंग कार्यक्रम का आयोजन न किया जाता हो। यहाँ यह बताना ग़ैर-मुनासिब न होगा कि राजकमल के बीस लेखक साहित्य अकादेमी के पुरस्कार से नवाज़े जा चुके थे। मुलाक़ात करने के लिए बहाने बनाने की ज़रूरत नहीं रह गयी थी। इन महफ़िलों में हिंदी और उर्दू गलबहियाँ करती थीं। शुरू में हिंदी और उर्दू वाले एक-दूसरे के साथ बड़े औपचारिक ढंग से बैठते थे। उनके बीच जैसे दूर की रिश्तेदारी का संदेह और अविश्वास छाया रहता था। इसके

मैं जब तीस बरसों की तरफ़ पलट कर देखती हूँ तो इत्मीनान और ख़ुशी से भर उठती हूँ। मुझे किसी बात का अफ़सोस नहीं है। अगर ज़िंदगी दुबारा मौक़ा दे तो मैं फिर वही सब करना चाहूँगी। हिंदी की संकीर्ण परम्परा ने शुरू में मुझे स्वीकार नहीं किया। वजह यह थी कि मर्दों की दुनिया में मैं अकेली औरत थी— वह भी आधुनिका और पश्चिम के तौर-तरीक़ों में रची-बसी। लेकिन फिर धीरे-धीरे मेरे साथ जुड़ा यह अनोखापन और कौतूहल ही मेरी ताक़त बनता गया।

बाद भले ही वे एक-दूसरे के काम और सोहबत से खिंचे-खिंचे रहते हों लेकिन धीरे-धीरे उनके बीच जमी बर्फ़ पिघलने लगी थी। भारत के उर्दू शायरों का पाद-टिप्पणीयुक्त दीवान छापने की परम्परा सबसे पहले राजकमल ने ही शुरू की। हमने भारतीय शायरों के अलावा अपने शहर लाहौर के शायर फ़ैज़ साहब के कलाम को देवनागरी और उर्दू लिपि में पहली बार शाया किया। उनका यह दीवान न केवल ख़ूबसूरत और मौजूदा दीवानों से हट कर था, बल्कि उसमें हिंदी और उर्दू एक-दूसरे की बगल में बैठी थीं। मेरे लिए यह व्यक्तिगत तौर पर भी ख़ुशी की बात थी, क्योंकि इन महफ़िलों में अब हरदेव भी शामिल रहने लगा था। वर्ना इससे पहले यह होता था कि जब बाक़ी लोग नागरी प्रचारिणी सभा के राजनीतिक दाँव-पेंचों की चर्चा में मशगूल रहा करते थे तो वह ड्राइंग रूम से मौक़ा मिलते ही बाहर निकल जाता था।

राजकमल प्रकाशन द्वारा साहित्य की महान विभूतियों के रचना-समग्र को ग्रंथावलियों के रूप में प्रकाशित करने की पहल एक तरह से धार्मिक पोथियों के पुनर्मुद्रण की परम्परा का पुनराविष्कार था। इसके पीछे हमारा मक़सद हिंदी साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान देने वाले जीवित रचनाकारों की कृतियों का एक अभिलेखागार तैयार करना था। इस सिलेसिले की शुरुआत हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की ग्रंथावली से हुई। ग्रंथावली का सम्पादन उनके सुपुत्र मुकुंद ने किया था। लखनऊ में आयोजित एक सादे से समारोह में इसका लोकार्पण वी.पी. सिंह ने किया था। *पंत रचनावली* के लिए मैंने प्रकाशन से पहले ही अग्रिम ऑर्डर ले लिया था। तब लोगों को पता भी नहीं था कि अग्रिम

ऑर्डर लेना किसे कहते हैं। हमारे लिए यह एक ज़बर्दस्त कामयाबी थी। ग्रंथावली प्रकाशित करना एक महँगा सौदा था लेकिन पुस्तकालयों की ख़रीद ने मुझमें विकट जोश भर दिया। बाद में हमने परसाई, मुक्तिबोध, रेणु, बच्चनजी आदि पर भी ग्रंथावलियाँ प्रकाशित कीं। लेकिन, ज़हनी तौर पर मुझे सबसे ज़्यादा ख़ुशी सआदत हसन मंटो की संकलित रचनाएँ छाप कर हुई। रिटायरमेंट के वक़्त मैं इस्मत चुग़ताई के संचयन पर काम कर रही थी।

राजकमल ने समकालीन रचनाओं के चुनिंदा संकलन भी प्रकाशित किये। इस शृंखला की किताबों का मूल्य बहुत कम रखा गया था। सच बात यह है कि हमारी हर पहल कामयाब हो रही थी। *नयी कहानियाँ* राजकमल के मुखपत्र जैसी थी। आज के अनेकानेक प्रतिष्ठित लेखकों की पहली कहानी इसी पत्रिका में छपी थी। यहाँ यह याद रहे कि मैं सातवें दशक में पत्रिकाओं के क्षेत्र में होने वाली उस क्रांति से पहले के दिनों की बात कर रही हूँ जब हिंदी में *धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, हंस, दिनमान* और शायद *गृहशोभा* के अलावा पत्रिका के नाम पर कुछ ख़ास नहीं था।

हमने साहित्य के नोबेल-विजेताओं और अस्तित्ववादी साहित्य के अनुवाद का सिलसिला भी जारी रखा। यह इसी मुहिम का नतीजा था कि अब हिंदी के पाठक अल्बैर कमू को महज़ आठ रुपये में पढ़ सकते थे। यह सच है कि समाज-विज्ञान की किताबों के मामले में हमारी फ़ेहरिस्त बहुत ख़ास नहीं रही, लेकिन यहाँ भी हमने कभी उत्कृष्टता से समझौता नहीं किया। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, कोसम्बी, रोमिला थापर, इरफ़ान हबीब, सुमित सरकार तथा रामशरण शर्मा सहित अन्य विद्वानों को सबसे पहले राजकमल ही हिंदी में लाया था। अंग्रेज़ी में पहले से प्रकाशित इन किताबों को हिंदी के पाठकों ने हाथों-हाथ लिया।

मैं इस बात को इसरार के साथ दोहराना चाहती हूँ कि हिंदी के प्रकाशन जगत में अगर मेरा कोई भी योगदान है तो वह कुल इतना है कि मैंने राजकमल के पुराने मालिकों— देवराज और ओमप्रकाश द्वारा डाली गयी उत्कृष्टता और स्तरीयता की परम्परा का प्राणपण से निर्वाह करते हुए उसमें इज़ाफ़ा किया। राजकमल का विस्तार होने पर देवजी ने अमृतसर में कपड़ों का व्यापार करने वाले अपने भाई ओमप्रकाश को वहाँ का काम बंद करके दिल्ली कूच करने के लिए कहा। ओमप्रकाश दूरद्रष्टा भी थे और सृजनशील भी। उन्हें जोखिम उठाना अच्छा लगता था। राजकमल को आज भी जिस गुणवत्ता के लिए जाना जाता है उसे क़ायम रखने तथा कई शृंखलाओं की शुरुआत करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। मैं ओमप्रकाश जी द्वारा बनाई गयी लीक से कभी नहीं डिगी। जब ज़रूरी हुआ तो उसे आगे ज़रूर बढ़ाया। दुर्भाग्य की बात यही थी कि जब अमेरिकी पीएल-480 फ़ंड का विवाद सामने आया तो अरुणाजी के साथ टकराने वाले ओमप्रकाश जी ही थे। हरदेव भी इसी समय विवाद में कूदा था।

मुझे अफ़सोस है कि मोहन राकेश से दोस्ती के बावजूद मैं राजकमल से उसकी केवल एक ही किताब प्रकाशित कर सकी। वैसे इसकी वजह यह थी कि मोहन राकेश किसी पुरानी दोस्ती के तकाज़े से बँधे थे। यही अड़चन वात्स्यायन जी के साथ आयी— राजकमल के सलाहकारों के वैचारिक रुझान के साथ उनकी भी पटरी नहीं बैठी। (मैं यह नहीं कह सकती कि कुछ लेखक राजकमल के साथ इसलिए नहीं आये क्योंकि उन्हें मेरी मौजूदगी अच्छी नहीं लगती थी। मुमकिन है कुछ और भी वजहें रही होंगी जिनके बारे में मुझे ठीक-ठीक नहीं पता।) राजकमल के पास जब लोग *नीलकमल* और *कटी पतंग* जैसी किताबें छापने का प्रस्ताव लेकर आते थे और अपनी फ़ज़ीहत करवा कर लौटते थे तो मैं ख़ुशी से झूम उठती थी। उन दिनों राजकमल में युवा फ़िल्मकार ख़ूब आया करते थे और अपने झोलों में *राग दरबारी, मित्रो मरजानी, तमस* और *नेताजी कहिन* जैसी किताबों का ज़ख़ीरा उठा कर ले जाते थे।

बुद्धिजीवियों के साथ वामपंथी दलों का संबंध हमेशा एक अजीब विकृति का शिकार रहा है। बुद्धिजीवियों के ऊपर इन दलों का शिकंजा कुछ इस तरह कसा रहता है कि उनकी बात पके-पकाये

लोगों के दायरे से आगे नहीं जा पाती। यह एक जानी-मानी बात है कि इन दलों ने सार्थक मुद्दों के बजाय औसत लोगों, फूहड़ और अप्रासंगिक मुद्दों को बढ़ावा दिया है। इससे एक ऐसी संस्कृति को प्रश्रय मिला जिसमें नौकरीबाज़ी और निजी स्वार्थों का घटाटोप बढ़ता गया। मैं ख़ुद को भी इस चूक से बरी नहीं करती। यह जगजाहिर है कि अरुणाजी या मैं जिस लड़ाई को लड़ना चाहती थी, उसे वामपंथ ने कभी समर्थन नहीं दिया। यह देख कर गहरा दुख होता है कि वामपंथ को न यह पता है कि राजनीति क्या होती है और न इस बात का शऊर है कि साहित्य और कला के क्षेत्र में राजनीति कैसे की जाती है। मुझे नहीं पता कि वामपंथ अब प्रगतिशील साहित्य के प्रकाशकों के साथ किस तरह का सुलूक करता है या वे प्रकाशक ख़ुद उन ज़ख्मों को किस तरह देखते हैं जो उन्हें वामपंथ की स्थापित पार्टियों से मिले हैं। पता नहीं कि वे लोग अब भी दोस्तों से किनारा करते हैं या उनकी तरफ़ प्यार का हाथ बढ़ाते हैं! कभी सोचती हूँ कि अगर कॉमरेड जोशी की ज़रा कम शुद्धतावादी लेकिन खुली और बहुलताओं से भरी सोच सफल हो पाती तो क्या यह मंज़र कुछ दूसरी तरह का नहीं होता!

बहरहाल, राजकमल की ताक़त यह थी कि साहित्य और उसके आलोचना-शास्त्र के प्रति उसका सरोकार कभी डगमगाया नहीं। साहित्य-आलोचना को समर्पित इसकी पत्रिका *आलोचना* चार दशकों तक चलती रही। इन बरसों में इसका सफ़र बेशक ऊबड़-खाबड़ रहा, लेकिन इसके सम्पादकों, सहयोगियों और ख़ुद प्रकाशक की साझी अनिश्चितताओं को देखते हुए इसका निकलते रहना ही कम बड़ी उपलब्धि नहीं थी। अभी पिछले दिनों सुनने में आया कि इस पत्रिका की पारी दुबारा शुरू हो गयी है। हमारी *आलोचना पुस्तक परिवार* की योजना ख़ास कामयाब नहीं रही। हमने इसे अन्य भाषाओं में प्रचलित बुक क्लब के ढर्रे पर शुरू किया था। लेकिन, हिंदी-पाठकों की आदत बंगाली, मराठी और मलयालम के पाठकों से अलग थी। हम अपनी मासिक गृह-पत्रिका *प्रकाशन समाचार* में विज्ञापित किताबों के ऑर्डर पर पाठकों को पैंतीस प्रतिशत छूट दिया करते थे। इसके अंतर्गत हम पाठकों को हार्डबाउंड की सूची में शामिल किताबें पेपरबैक ज़िल्द में देते थे। यह एक ऐसा काम था जिसमें बिल बनाने की क़वायद बहुत टेढ़ी थी। राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के गाँव-जवार में छोटे-छोटे मूल्य के पैकेट भेजना आफ़त भरा काम था। इस काम में डाक-विभाग और रेलवे के बाबुओं से बहुत चख-चख करनी पड़ती थी। लेकिन, जब भी हम इस दिमाग़ खाऊ योजना को बंद करने की सोचते तो हमें उन अनगिनत पाठकों के धन्यवाद से भरे पत्र याद आने लगते। इस योजना की तमाम ख़तोकिताबत और किताबें भेजने का काम रामगोपालजी के ज़िम्मे था और योजना को बंद करने की बात उठते ही वे सत्याग्रह पर उतर आते थे। एक समय इस योजना के सदस्यों की संख्या एक हज़ार से ऊपर पहुँच गयी थी। नये प्रबंधन ने आते ही सबसे पहले इसी योजना का ख़ात्मा किया। यह कभी भी मुनाफ़ा देने वाली योजना नहीं थी। उसे सँभालना बहुत कसाले के काम था लेकिन राजकमल के लिए यह एक सरोकार था।

जब भी सरकार की ओर से बड़ी ख़रीद का ऑर्डर आता तो न जाने कहाँ-कहाँ से दलाल और चालू पुर्ज़ों की फ़ौज निकल आती। उनका काम सिर्फ़ पैसा कूटना होता था। मुझे याद है कि जब राजीव गाँधी की सरकार ने ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड शुरू किया तो हमारे पास भी एक ऐसा प्रस्ताव आया जिसमें ज़रा सी आपसी 'समझदारी' राजकमल को करोड़ों का मालिक बना देती। प्रस्ताव के तहत हमें कुछ ऐसी किताबों की डिलीवरी करनी थी जिन्हें छापने की ही ज़रूरत नहीं थी! उन्हें ऐसे स्कूलों में भेजा जाना था जिनका अस्तित्व ही नहीं था और उन्हें ऐसे बच्चों को पढ़ना था जो मौजूद ही नहीं थे! दलाल की बात सुनकर मैं ग़ुस्से से पागल हो गयी। मैंने मृदु स्वभाव के लिए जाने जानेवाले कांतिजी को घंटी बजाकर बुलाया और उनसे कहा कि मेरे सामने मेज की दूसरी तरफ़ बैठे उस आदमी को फ़ौरन बाहर का रास्ता दिखाएँ! मेरी प्रतिक्रिया देख कर वह आदमी सकते में आ गया। जब बात समझ आयी तो वह अचकचा कर उठा और अपनी धोती सँभालते हुए कहने लगा : '... आप काहे

को इतनी परेसान हो रही हैं सीला जी? ... आप कुछ ठीक नहीं समज पा रही हैं... कहें तो हम सत्त परकास जी से मिल लें? ... राजकमल जैसी वरिष्ठ संस्था को हमारी जरूरत है ही नहीं तो फिर हम कहीं और जाते हैं।' जाते-जाते वह आदमी मेरे दफ़्तर के बाहर थूकना नहीं भूला। मैंने प्रधानमंत्री को उनकी योजना में चल रही इन धाँधलियों की जानकारी देने के लिए उनसे मुलाक़ात तय की। जब मैंने उन्हें इस गोरखधंधे के बारे में बताया तो वे हमेशा की तरह मीठे और गबदू अंदाज़ में मुस्कुरा दिये।

बॉलपेन, डिजिटल घड़ियों, भोजन बनाने के आधुनिक यंत्रों और वर्ड प्रोसेसर को लेकर मेरे मन में गहरा संदेह और लगभग लुड्डाइटों जैसी वितृष्णा थी। मैं उस आधुनिकता को अपने दफ़्तर में क़दम नहीं रखने देना चाहती थी जो जेस्टेटनर साइक्लोस्टाइल की जगह ज़ेरॉक्स और रेमिंगटन के द्विभाषी कीबोर्ड से निकलने वाले खट-खट-खटाक की आवाज़ को हजम कर उसकी जगह वर्ड प्रोसेसर रख देना चाहती थी (मानो लिखने का काम हाथ के बजाय पूरी तरह इलेक्ट्रॉनिक काम बनाया जा सकता हो!) हमने कभी हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को स्वीकार करने से इनकार नहीं किया। अजीताजी इन पाण्डुलिपियों को जतन से टाइप करती थीं। फिर लेटर प्रेस में उनका प्रूफ़ चेक किया जाता था। इसके बाद टंकित की गयी पाण्डुलिपि लेखक को सौंप दी जाती थी। हम किताबों के ब्लर्ब, प्रचार और आवरण का मसला तय करने से पहले हमेशा लेखक की राय भी लेते थे। जब प्रोडक्शन के बाक़ी पहलुओं पर लेखक से सलाह करने की स्थिति नहीं बन पाती थी तब भी मैं इस बात का ख़याल रखती थी कि लेखक जब चाहे अपनी किताब के प्रकाशन से जुड़ी हर सम्भव जानकारी लेता रहे। फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन पब्लिशर्स की लम्बे समय तक पहली और अकेली महिला सदस्य होने के दौरान मैंने कई दफ़ा यह मुद्दा उठाया कि लेखकों का भरोसा जीतने के लिए उनकी रॉयल्टी का बही-खाता पारदर्शी रखा जाना चाहिए। लेकिन लोगों ने मेरी बात पर कभी ध्यान नहीं दिया। ज़ाहिर है कि प्रकाशकों के फ़ोरम में इस बात को ज़्यादा तवज्जो नहीं मिलने वाली थी!

हमारी किताबें इलेक्ट्रॉनिक नहीं होती थीं। वे अभी भी डिस्क के बजाय किराये के गोदामों में मीलों लम्बी शेल्फ़ों पर रखी जाती थीं। इन किताबों को सुरक्षित रखने के लिए हम हर छह महीने बाद 'कूची' फेरने और पन्नों के जोड़ पर चिपकी 'लेई' को चूहों से बचाने के लिए कीटनाशक छिड़काव का कार्यक्रम बनाते थे। आज यह बात कुछ अजीब और हास्यास्पद लग सकती है, लेकिन उन दिनों जब इस अभियान को पूरा करने के बाद सिर से पाँव तक धूल में सने मिश्राजी गोदाम से छींकते और खाँसते बाहर आया करते थे तो उन्हें देख कर लगता था कि जैसे हमारे सामने कोई भूकम्प का मारा आदमी आ रहा है। तीस से ज़्यादा कर्मचारियों के उस दफ़्तर में सत्तजी की मौजूदगी एक धीर-गम्भीर, कमाऊ और अटल आदमी की हुआ करती थी। उनकी यह मौजूदगी दफ़्तर के रोज़मर्रा के तनावों पर हमेशा भारी पड़ती थी। कलकत्ता से आने के बाद मोहन गुप्त ने सम्पादन का काम इस तरह हाथ में लिया कि अंततः वे सम्पादक-उत्पादन प्रबंधक की ज़िम्मेदारी उन्हीं को दे दी गयी। मेरा मानना है कि हिंदी के प्रकाशन जगत में उन जैसा सम्पादक और प्रबंधक आज तक नहीं हुआ। उनमें कोई और दोष भले हो लेकिन उत्साह के मामले में वे बेमिसाल थे। उनके लिए दफ़्तर का समय काम बंद करने का समय नहीं होता था। विक्रय विभाग में काम करने वाले लोगों के साथ उनकी हमेशा ठनी रहती थी। सम्पादकीय विभाग की हर नयी पहल को विक्रय विभाग वाले बेकार और फालतू कह कर ख़ारिज कर देते थे। ऐसी किसी भी पहल को वे 'पत्थर का अचार' कह कर हवा में उड़ा देते थे।

मेरा सबसे गहरा अफ़सोस यह है कि उत्तर भारत के मध्यवर्ग के पास हिंदी की साहित्यिक सम्पदा तक पहुँचने या उसका सम्मान करने की क़ाबिलियत नहीं है। मेरे तीनों बच्चे भी इसका अपवाद नहीं रहे। उन्हें भी इस बात का इल्म नहीं है कि यह कमी उनके बौद्धिक और भावनात्मक जीवन को किस तरह एकांगी बना देती है। उनके पास हिंदी के प्रति मेरी भावनाओं में शामिल न होने का कोई न कोई कारण हमेशा मौजूद रहा। हमने अपनी उस वक़्त हाल-फ़िलहाल दिल्ली लौटी अपनी दूसरी

बेटी पर दबाव बनाने की कोशिश की कि वह अपना पति ढूँढ़ने तथा एक और डिग्री हासिल करने की अंतहीन खोज बंद करे और किसी भी ख़ुदमुख़्तार औरत की तरह अपने करियर पर ध्यान लगाए। वह जब बच्ची थी, तब भी इसी तरह उद्दण्ड थी। वह चीज़ों पर बेसाख़्ता और अपने हिसाब से राय दिया करती थी। मुझे उसका यह बर्ताव बर्दाश्त नहीं होता था। मैं यह बात बहुत जल्दी समझ गयी थी कि हम दोनों के मिज़ाज बहुत अलग तरह के हैं, इसलिए दरियागंज के दफ़्तर की राजनीति को देखते हुए उसका वहाँ आना नयी आफ़तों को बुलावा देना था। मेरी अगर कोई चाहत थी तो केवल इतनी थी कि प्रकाशन जिंदाबाद रहे। उसका पूरा ध्यान पेपरबैक विभाग पर था। वह अपने पूरे जोशोख़रोश से राजकमल पेपरबैक के आवरण डिजाइन करने में मशगूल थी। पेपरबैक के आवरण का यह ख़याल उसने पेंगुइन क्लासिक्स से लिया था। हिंदी में प्रकाशित होने वाली किताबों के आवरणों पर मक़बूल फ़िदा हुसेन, रामकुमार, स्वामीनाथन, अकबर पद्मसी, तैय्यब मेहता, फ्रांसिस न्यूटन सूज़ा, कृष्ण खन्ना जैसे स्थापित चित्रकारों और नौजवान पीढ़ी के कुछ अल्पचर्चित चित्रकारों— मंजीत, अर्पिता, ग़ुलाम, जोगेन, निलिमा, शमशाद, परमजीत, अमिताव, विवान और मृणालिनी को लाने का श्रेय उसी को जाता है।

राजकमल में गुज़रा वक़्त मेरे लिए एक बेहद समृद्धकारी अनुभव था। यह मेरे लिए एक इनाम की तरह था। मेरी शिक्षा में जो कमी रह गयी थी, वह राजकमल में आकर दुरुस्त हो गयी। मैं जब तीस बरसों की तरफ़ पलट कर देखती हूँ तो इत्मीनान और ख़ुशी से भर उठती हूँ। मुझे किसी बात का अफ़सोस नहीं है। अगर ज़िंदगी दुबारा मौक़ा दे तो मैं फिर वही सब करना चाहूँगी। हिंदी की संकीर्ण परम्परा ने शुरू में मुझे स्वीकार नहीं किया। वजह यह थी कि मर्दों की दुनिया में मैं अकेली औरत थी— वह भी आधुनिका और पश्चिम के तौर-तरीक़ों में रची-बसी। लेकिन फिर धीरे-धीरे मेरे साथ जुड़ा यह अनोखापन और कौतूहल ही मेरी ताक़त बनता गया।

(शीला संधू के इस वक्तव्य को तानी भार्गव ने लिपिबद्ध किया)

मानव-अर्जित प्रकृति-सापेक्ष स्वतंत्रता स्त्रियों, उत्पादक श्रम से जुड़े जनों, जातियों और वर्गों अर्थात् बहुसंख्या की परतंत्रता पर आधारित थी। अपने स्वरूप में परिवर्तन के बावजूद, इस बहुसंख्या की परतंत्रता का यह सिलसिला आज तक जारी है। इस परतंत्रता से मुक्ति न्याय है, और चूँकि इस परतंत्रता के कई आयाम हैं, इसीलिए न्याय का प्रश्न भी मानव इतिहास में अनेक आयामों में उपस्थित होता रहा है। समग्र रूप से देखें तो परतंत्रता के कारण भी अब तक मानव-मस्तिष्क का अस्तित्व खण्डित रहा है। साथ ही उसकी मस्तिष्क-क्रिया अथवा सामूहिक ज्ञान-क्रिया या कार्य-सक्रियता भी सीमित, कुंठित और बाधित रही है। न्याय का अर्थ है खण्डित, सीमित, कुंठित और बाधित स्थिति से मस्तिष्क की, ज्ञान की मुक्ति ताकि वह अपनी सारी सम्भावनाएँ तथा क्षमताएँ साकार कर सके। ज्ञान की मुक्ति न्याय में है और अगर ज्ञान न्याय के साथ प्रस्थान नहीं करता तो खण्डित और बाधित ज्ञान की विद्रुपताओं और विभीषिकाओं से मानव-जाति मुक्त नहीं हो सकती। इसीलिए ज्ञान की पहली चुनौती न्याय की स्थापना है, और उसका प्रस्थान-बिंदु न्याय का विवेक है।